मोहन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण

—एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द जी

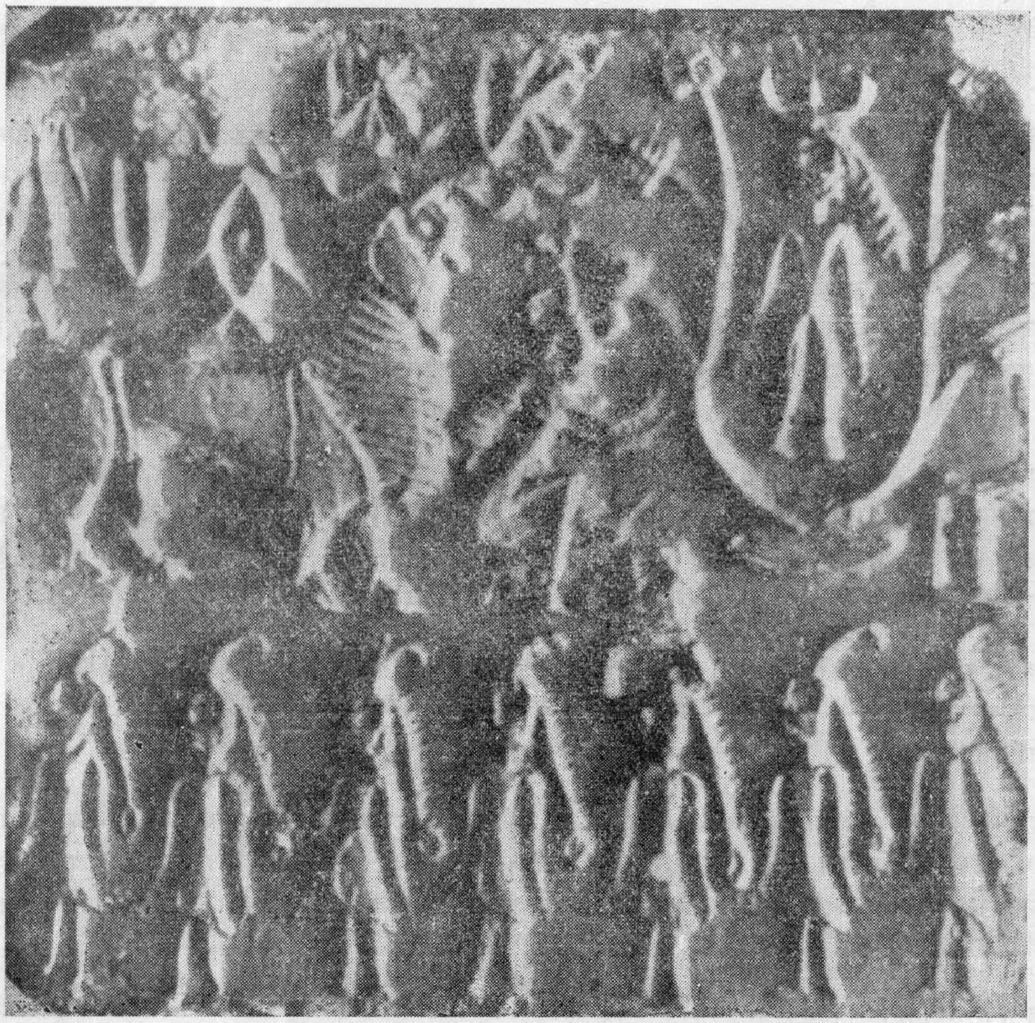

भारतीय जैन शिल्पकला का प्रयोजन क्या है और क्यों इसका इतना विकास हुआ—यह एक ऐसा विषय है, जिस पर काफी उन्मुक्त और युक्तियुक्त विचार होना चाहिये। जैनधर्म और दर्शन वैराग्यमूलक हैं। उनका सम्बन्ध अन्तर्मुख सौन्दर्य से है; किन्तु यह जिज्ञासा सहज ही मन में उठती है कि क्या अन्तर्मुख सौन्दर्य की कोई बाह्य अभिव्यक्ति संभव नहीं है ? क्या कोई काष्ठ, धातु या पाषाण-खण्ड अपने आप बोल उठता है ? संभव ही नहीं है; क्योंकि यदि किसी पाषाण-काष्ठ-खण्ड आदि को शिल्पाकृति लेनी होती तो वह स्वयं वैसा कभी का कर चुका होता; किन्तु ऐसा है नहीं। बात कुछ और ही है। जब तक कोई साधक/शिल्पी अपनी भव्यता को पाषाण में लयबद्ध/तालबद्ध नहीं करता, तब तक किसी भी शिल्पाकृति में प्राण-प्रतिष्ठा असंभव है। काष्ठ, मिट्टी, पत्थर, काँसा, ताँबा—माध्यम जो भी हो—चेतन की तरंगों का रूपांकन जब तक कोई शिल्पी उन पर नहीं करता, वे गूंगे बने रहते हैं।

मूर्ति जैनों के लिए साधना-आराधना का आलम्बन है। वह साध्य नहीं है, साधन है। उसमें स्थापना निक्षेप से भगवत्ता की परिकल्पना की जाती है। शिल्पी भी वही करता है। मोहन-जो-दड़ो में जो सीलें (मुद्राएँ) मिली हैं, वे भी साधन हैं, साध्य नहीं हैं; मार्ग हैं, गन्तव्य नहीं हैं; किन्तु शिल्प और कला, वास्तु और स्थापत्य के माध्यम इतने सशक्त हैं कि उनके द्वारा परम्परा और इतिहास को प्रेरक, पवित्र और कालातीत बनाया जा सकता है।

जैन स्थापत्य और मूर्ति-शिल्प का मुख्य प्रयोजन आत्मा की विशुद्धि को प्रकट करना और आत्मोत्थान के लिए एक व्यावहारिक एवं सुमधुर भूमिका तैयार करना है, इसलिए सौन्दर्य, मनोज्ञता, प्रफुल्लता, स्थितप्रज्ञता, एकाग्रता, आराधना, पूजा आदि के इस माध्यम को हम जितना भी यथार्थमूलक तथा भव्य बना सकते हैं, बनाने का प्रयत्न करते हैं। इनमें भगवान् भला कहाँ है ? कैसे हो सकते हैं ? फिर भी हैं और हम उन्हें पा सकते हैं। मूर्ति की भव्यता इस में है कि वह स्वयं साधक में उपस्थित हो और साधक की सार्थकता इसमें है कि वह मूर्ति में समुपस्थित हो। इन दोनों के तादात्म्य में ही साधना की सफलता है।

मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त सीलों (मुद्राओं) की सब से बड़ी विशेषता है कला की दृष्टि से उनका उत्कृष्ट होना। शरीर-गठन और कला-संयोजन की सूक्ष्मताओं और सौन्दर्य की संतुलित अभिव्यक्ति ने इन सीलों को एक विशेष कला-संपूर्णता प्रदान की है। बहुत सारे विषयों का एक साथ सफलतापूर्वक संयोजन इन सीलों की विशेषता है।

उक्त दृष्टि से भारत सरकार के केन्द्रीय पुरातात्त्विक संग्रहालय में सुरक्षित सील क्र० ६२०/१९२८-२९ समीक्ष्य है। इसमें जैन विषय और पुरातथ्य को एक रूपक के माध्यम से इस खूबी के साथ अंकित एवं समायोजित किया गया है कि वे जैन पुरातत्त्व और इतिहास की एक प्रतिनिधि निधि बन गये हैं। न केवल पुरातात्त्विक अपितु इतिहास और परम्परा की दृष्टि से भी इस सील (मुद्रा) का अपना महत्त्व है।

इसमें दायीं ओर नग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में भगवान् ऋषभदेव हैं, जिनके शिरोभाग पर एक त्रिशूल है, जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) का प्रतीक है। निकट ही नतशीश हैं उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत, जो उष्णीष धारण किये हुए राजसी ठाठ में हैं। वे भगवान् के चरणों म अंजलिबद्ध भक्ति-पूर्वक नतमस्तक हैं। उनके पीछे वृषभ (बैल) है, जो ऋषभनाथ का चिह्न (पहचान) है। अधोभाग में सात प्रधान अमात्य हैं, जो तत्कालीन राजसी गणवेश में पदानुक्रम से पंक्तिबद्ध हैं।

चक्रवर्ती भरत सोच रहे हैं : 'ऋषभनाथ का अध्यात्म-वैभव और मेरा पार्थिव वैभव !! कहाँ है दोनों में कोई साम्य ? वे ऐसी ऊँचाइयों पर हैं जहाँ तक मुझ अकिंचन की कोई पहुंच नहीं है।' भरत की यह निष्काम भक्ति उन्हें कमल-दल पर पड़े ओस-बिन्दु की भाँति निर्लिप्त बनाये हुए है। वे आकिंचन्य-बोधि से धन्य हो उठे हैं।

'सर्वार्थसिद्धि' १-१ (आचार्य पूज्यपाद) में कहा है : 'मूर्तमिव मोक्षमार्गवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तम्' (वे निःशब्द ही अपनी देहाकृति मात्र से मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाले हैं)। शब्द जहाँ घुटने टेक देता है, मूर्ति वहाँ सफल संवाद बनाती है। मूर्ति भक्ति का भाषातीत माध्यम है। उसे अपनी इस सहज प्रक्रिया में किसी शब्द की आवश्यकता नहीं है। उसकी अपनी वर्णमाला है; इसीलिए मिट्टी, पाषाण आदि को आत्मसंस्कृति का प्रतीक माना गया है।

कौन नहीं जानता कि मूर्ति पाषाण आदि में नहीं होती, वह होती है वस्तुतः मूर्तिकार की चेतना में पूर्वस्थित जिसे कलाकार क्रमशः उत्कीर्ण करता है अर्थात् वह काष्ठ आदि के माध्यम से आत्माभिव्यंजन या आत्मप्रतिबिम्बन करता है। पाषाण जड़ है; किन्तु उसमें जो रूपायित या मूर्तित है वह महत्त्वपूर्ण है। मूर्ति में सम्प्रेषण की अपरिमित ऊर्जा है। यही ऊर्जा या क्षमता साधक को परम भगवत्ता अथवा परमात्मतत्त्व से जोड़ती है अर्थात् साधक इसके माध्यम से मूर्तिमान तक अपनी पहुंच बनाता है।

शिल्पशास्त्र प्रथमानुयोग का विषय है। विशुद्ध आत्मबोधि से पूर्व हम इसी माध्यम की स्वीकृति पर विवश हैं। आगम क्या है ? आगम माध्यम है सम्यक्त्व तक पहुंचने का। आगम केवली के बोधि-दर्पण का प्रतिबिम्ब है, जिसका अनुगमन हम श्रद्धा-भक्ति द्वारा कर सकते हैं। 'आगम' शब्द की व्युत्पत्ति है : 'आगमयति हिताहितं बोधयति इति आगमः' (जो हित-अहित का बोध कराते हैं, वे आगम हैं)। तीर्थंकर की दिव्यवाणी को इसीलिए आगम कहा गया है।

कहा जा सकता है कि अध्यात्म से पुरातत्त्व एवं मूर्तिशिल्प आदि की प्राचीनता का क्या सम्बन्ध है ? इस सिलसिले में हम

कहेंगे कि शिल्पकला आदि के माध्यम से आगम बोधगम्य बनता है और हम बड़ी आसानी से उस कंटकाकीर्ण मार्ग पर पग रखने में समर्थ होते हैं ।

जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद है । प्राचीनता के इस तथ्य को हम दो साधनों से जान सकते हैं : पुरातत्त्व तथा इतिहास । जैन पुरातत्त्व का प्रथम सिरा कहाँ है, यह तय करना कठिन है; क्योंकि मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में कुछ ऐसी सामग्री मिली है, जिसने जैनधर्म की प्राचीनता को आज से कम-से-कम ५००० वर्ष आगे धकेल दिया है ।[1] सिन्धुघाटी से प्राप्त मुद्राओं के अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि 'कायोत्सर्ग मुद्रा' जैनों की अपनी लाक्षणिकता है । प्राप्त मुद्राओं पर तीन विशेषताएँ हैं : कायोत्सर्ग मुद्रा, ध्यानावस्था और नग्नता (दिगम्बरत्व) ।[2]

मोहन-जो-दड़ो की सीलों पर योगियों की जो कायोत्सर्ग मुद्रा अंकित है उसके साथ वृषभ भी है । वृषभ ऋषभनाथ का चिह्न (लाँछन) है । पद्मचन्द्र कोश में ऋषभ का व्युत्पत्तिक अर्थ दिया है : 'सम्पूर्ण विद्याओं में पार जाने वाला एक मुनि ।'[3] हिन्दू पुराणों में जो वर्णन मिलता है उसमें ऋषभ और भरत दोनों के विपुल उल्लेख हैं । पहले माना जाता रहा है कि दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से ही इस देश का नाम भारत हुआ; किन्तु अब यह निर्भ्रान्त हो गया है कि भारत ऋषभ-पुत्र 'भरत' के नाम पर ही 'भारत' कहलाया ।[4] इसका पूर्वनाम अजनाभवर्ष था । नाभि (अजनाभ) ऋषभ के पिता थे । उन्हीं के नाम पर यह अजनाभवर्ष कहलाया । 'वर्ष' का अर्थ है 'देश'; तदनुसार 'भारतवर्ष' का अर्थ हुआ 'भारतदेश' । मोहन-जो-दड़ो की संकेतित सील में भरत चक्रवर्ती की मूर्ति भी उकेरी गयी है । इन सारे पुरातथ्यों की वस्तुनिष्ठ समीक्षा की जानी चाहिये ।

प्रस्तुत सील को जब हम तफ़सीलवार या विस्तार में देखते हैं तब इसमें हमें सात विषय दिखायी देते हैं : (१) ऋषभ-देव नग्न कायोत्सर्गरत योगी । (२) प्रणाम की मुद्रा में नतशीश भरत चक्रवर्ती । (३) त्रिशूल । (४) कल्पवृक्ष पुष्पावलि । (५) मृदु लता । (६) वृषभ (बैल) । (७) पंक्तिबद्ध गणवेशधारी प्रधान आमात्य ।

निश्चय ही इस तरह की संरचना का आधार पीछे से चली आती कोई सुदृढ़ सांस्कृतिक परम्परा ही हो सकती है । प्रचलित लोक-परम्परा के अभाव में मात्र जैनागम के अनुसार इस तरह की परिकल्पना संभव नहीं है ।

इतिहास में ही हम अपने प्राचीन ऋक्थ (धरोहर) को प्रामाणिक रूप में सुरक्षित पाते हैं । इतिहास, ऐतिह्य और आम्नाय समानार्थक शब्द हैं ।[5] इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार इसका वाच्यार्थ है : 'इति ह आसीत्' (निश्चय से ऐसा ही हुआ था तथा परम्परा से ऐसा ही है) । इतिहास असल में दीपक है । जिस तरह एक दीपक से हम वस्तु के यथार्थ रूप को देख पाते हैं, ठीक वैसे ही इतिहास से हमें पुरातथ्यों की निर्भ्रान्त सूचना मिलती है ।

परम्परा और इतिहास में किंचित् अन्तर है । इतिहास ठोस तथ्यों पर आधारित होता है; परम्परा लोकमानस में उभरती और आकार ग्रहण करती है । एक पीढ़ी जिन आस्थाओं, स्वीकृतियों और प्रचलनों को आगामी पीढ़ी को सौंपती है, परम्परा उनसे बनती है । परम्पराओं का कोई सन्-संवत् नहीं होता । वैसे इस शब्द के नानार्थ हैं । एक अर्थ पुरासामग्री भी है । परम्परा अर्थात् एक सुदीर्घ अतीत से जो अविच्छिन्न चला आ रहा है वह । योगियों की भी एक अविच्छिन्न परम्परा रही है । योगविद्या क्षत्रियों की अपनी मौलिकता है । क्षत्रियों ने ही उसे द्विजों को हस्तान्तरित किया ।[6] ऐसा लगता है कि सिन्धुघाटी के उत्खनन में प्राप्त सीलें एक सुदीर्घ परम्परा की प्रतिनिधि हैं । वे आकस्मिक नहीं हैं, अपितु एक स्थापित सत्य को प्रकट करती हैं ।

---

१. सिंध फाइव थाउजेंड इअर्स एगो; रामप्रसाद चन्दा; 'मॉडर्न रिव्ह्यू' कलकत्ता; अगस्त १९३२

२. अतीत का अनावरण; आचार्य तुलसी, मुनि नथमल, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६९; पृ. १९

३. पद्मचन्द्र कोश, पृ. ४९५; ऋषभदेव (पु.) १. ऋष+अभक्=जाना, दिव=अच् (सम्पूर्ण विद्याओं में पार जाने वाला एक मुनि); २. जैनों का पहिला तीर्थंकर ।

४. मार्कण्डेय पुराण : सांस्कृतिक अध्ययन; डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल; पृ. २२-२४

५. आदिपुराण १/२५; आचार्य जिनसेन ।

६. प्रतिष्ठातिलक १८/१; नेमिचन्द्र ।

भारतीय इतिहास, संस्कृति और साहित्य ने इस तथ्य को पुष्ट किया है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता जैन सभ्यता थी।[1] सिन्धुघाटी के संस्कार जैन संस्कार थे। इससे यह उपपत्ति बनती है कि सिन्धुघाटी में प्राप्त योगमूर्ति, ऋग्वैदिक वर्णन तथा भागवत, विष्णु आदि पुराणों में ऋषभनाथ की कथा आदि इस तथ्य के साक्ष्य हैं कि जैनधर्म प्राग्वैदिक ही नहीं वरन् सिन्धुघाटी सभ्यता से भी कहीं अधिक प्राचीन है।

श्री नीलकण्ठदास साहू के शब्दों में : 'जैनधर्म संसार का मूल अध्यात्म धर्म है। इस देश में वैदिक धर्म के आने से बहुत पहले से ही यहाँ जैनधर्म प्रचलित था। खूब संभव है कि प्राग्वैदिकों में शायद द्रविड़ों में यह धर्म था।'[2]

कुछ ऐसे शब्द हैं, जो जैन परम्परा में रूढ़ बन गये हैं। डा० मगलदेव शास्त्री का कथन है कि 'वातरशन' शब्द जैन मुनि के अर्थ में रूढ़ हो गया था। उनकी मान्यता है कि 'श्रमण' शब्द की भाँति ही 'वातरशन' शब्द मुनि-सम्प्रदाय के लिए प्रयुक्त था। मुनि-परम्परा के प्राग्वैदिक होने में दो मत नहीं हैं।[3]

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल भारतीय इतिहास के जाने-माने विद्वान् रहे हैं। उन्होंने भी स्वीकार किया है कि भारत का नाम ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर ही भारतवर्ष हुआ। इससे पहले भ्रान्तिवश उन्होंने दुष्यन्त-पुत्र भरत के कारण इसे भारत अभिहित किया था।[४]

जैनों का इतिहास बहुत प्राचीन है। भगवान् महावीर से पूर्व तेईस और जैन तीर्थंकर हुए हैं, जिनमें सर्वप्रथम हैं ऋषभनाथ। सर्वप्रथम होने के कारण ही उन्हें आदिनाथ भी कहा जाता है। जैन कला में उनकी जो मुद्रा अंकित है वह एक गहन तपश्चर्यारत महायोगी की है। भागवत में ऋषभनाथ का विस्तृत जीवन-वर्णन है।[५]

जैन दर्शन के अनुसार यह जगत् अनादिनिधन है अर्थात् इसका न कोई ओर है और न छोर। यह रूपान्तरित होता है; किन्तु अपने मूल में यह यथावत् रहता है। युग बदलते हैं; किन्तु वस्तु-स्वरूप नहीं बदलता। द्रव्य नित्य है। उसका रूपान्तरण संभव है; किन्तु ध्रौव्य असंदिग्ध है।

आज जो युग चल रहा है वह कर्मयुग है। माना जाता है कि यह युग करोड़ों वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था। उस समय भगवान् ऋषभनाथ युग-प्रधान थे। असि (रक्षा), मसि (व्यापार), कृषि (खेती) और अध्यात्म (आत्मविद्या) की शिक्षा उन्होंने दी। उन्होंने प्रजाजनों को, जो कर्मपथ से अनभिज्ञ थे; बीज, चक्र, अंक और अक्षर दिये। कर्मयुग की यह परम्परा तब से अविच्छिन्न चली आ रही है।

ऋषभनृप दीर्घकाल तक शासन करते रहे। उन्होंने उन कठिन दिनों में जनता को सुशिक्षित किया और उनकी बाधाओं, व्यवधानों और दुविधाओं का अन्त किया। अन्त में आत्मशुद्धि के निमित्त उन्होंने श्रमणत्व ग्रहण कर लिया और दुर्द्धर तपश्चर्या में निमग्न हो गये। स्वयं द्वारा स्थापित परम्पराओं और प्रवर्तनों के अनुसार उन्होंने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना सम्पूर्ण राजपाट सौंपा और परिग्रह को जड़मूल से छोड़ कर वे वैराग्योन्मुख हो गये; फलतः वे परम ज्ञाता-दृष्टा बने। उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों को जीत लिया, अतः वे 'जिन' कहलाये। 'जिन' की व्युत्पत्ति है : 'जयति इति जिनः' (जो स्वयं को जीतता है, वह जिन है)।

कैवल्य-प्राप्ति के बाद उन्होंने जनता को अध्यात्म का उपदेश दिया और बताया कि आत्मोपलब्धि के उपाय क्या हैं ? चूंकि उनका उपनाम जिन था, अतः उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म जैनधर्म कहलाया। इस तरह जैन धर्म विश्व का सर्वप्रथम धर्म बना।

---

१. भारतीय दर्शन, पृ० ६३; वाचस्पति गैरोला।

२. उड़ीसा में जैनधर्म; डॉ० लक्ष्मीनारायण साहू; श्री अखिल जैन मिशन, एटा; प्र० प्र०, उ०, १९५९

३. 'नवनीत', हिन्दी मासिक, बम्बई; डॉ० मंगलदेव शास्त्री; जून १९७४; पृ० ६६

४. दे० टि० क्र० ४

५. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका; पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री; भूमिका—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल; पृ० ८

भगवान् ऋषभनाथ का वर्णन वेदों में नाना सन्दर्भों में मिलता है। कई मन्त्रों में उनका नाम आया है। मोहन-जो-दड़ो (सिन्धुघाटी) में पाँच हजार वर्ष पूर्व के जो पुरावशेष मिले हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म हजारों साल पुराना है। मिट्टी की जो सीलें वहाँ मिली हैं; उनमें ऋषभनाथ की नग्न योगिमूर्ति है। उन्हें कायोत्सर्ग मुद्रा में उकेरा गया है। उनकी इस दिगम्बर खड़गासनी मुद्रा के साथ उनका चिह्न बैल भी किसी-न-किसी रूप में अंकित हुआ है। इन सारे तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि जैनों का अस्तित्व मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता से अधिक प्राचीन है।

श्री रामप्रसाद चन्दा ने अगस्त १९३२ के 'माडर्न रिव्ह्यू' के "सिन्ध फाइव थाउजेंड इअर्स एगो" नामक लेख (पृ० १५८-५९) में कायोत्सर्ग मुद्रा के सम्बन्ध में विस्तार से लिखते हुए इसे जैनों की विशिष्ट ध्यान-मुद्रा कहा है और माना है कि जैनधर्म प्राग्वैदिक है, उसका सिन्धुघाटी की सभ्यता पर व्यापक प्रभाव था :—

"सिन्धु घाटी की अनेक सीलों में उत्कीर्णित देवमूर्तियाँ न केवल बैठी हुई योगमुद्रा में हैं और सुदूर अतीत में सिन्धुघाटी में योग के प्रचलन की साक्षी हैं अपितु खड़ी हुई देवमूर्तियाँ भी हैं जो कायोत्सर्ग मुद्रा को प्रदर्शित करती हैं।"

"कायोत्सर्ग (देह-विसर्जन) मुद्रा विशेषतया जैन मुद्रा है। यह बैठी हुई नहीं, खडी हुई है। 'आदिपुराण' के अठारहवें अध्याय में जिनों-में-प्रथम जिन ऋषभ या वृषभ की तपश्चर्या के सिलसिले में कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन हुआ है।"

"कर्जन म्यूजियम ऑफ आर्कियोलॉजी, मथुरा में सुरक्षित एक प्रस्तर-पट्ट पर उत्कीर्णित चार मूर्तियों में से एक ऋषभ जिन की खड़ी हुई मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा में है। यह ईसा की द्वितीय शताब्दी की है। मिस्र के आरम्भिक राजवंशों के समय की शिल्प-कृतियों में भी दोनों ओर हाथ लटकाये खड़ी कुछ मूर्तियाँ प्राप्त हैं। यद्यपि इन प्राचीन मिस्री मूर्तियों और यूनान की कुराई मूर्तियों की मुद्राएँ भी वैसी ही हैं; तथापि वह देहोत्सर्गजनित निःसंगता, जो सिन्धुघाटी की सीलों पर अंकित मूर्तियों तथा कायोत्सर्ग ध्यान-मुद्रा में लीन जिन-बिम्बों में पायी जाती है, इनमें अनुपस्थित है। वृषभ का अर्थ बैल है, और यह बैल वृषभ या ऋषभ जिन का चिह्न (पहचान) है।"

मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में उपलब्ध मृण्मुद्राओं (सीलों) में योगियों की जो ध्यानस्थ मुद्राएँ हैं, वे जैनधर्म की प्राचीनता को सिद्ध करती हैं। वैदिक युग में व्रात्यों और श्रमणों[1] की परम्परा का होना भी जैनों के प्राग्वैदिक होने को प्रमाणित करता है। व्रात्य का अर्थ महाव्रती है। इस शब्द का वाच्यार्थ है : 'वह व्यक्ति जिसने स्वेच्छया आत्मानुशासन को स्वीकार किया है।' इस अनुमान की भी स्पष्ट पुष्टि हुई है कि ऋषभ-प्रवर्तित परम्परा, जो आगे चल कर शिव में जा मिली, वेदचर्चित होने के साथ ही वेदपूर्व भी है।[2] जिस तरह मोहन-जो-दड़ो में प्राप्त सीलों की कायोत्सर्ग मुद्रा आकस्मिक नहीं है, उसी तरह वेद-वर्णित ऋषभ नाम भी आकस्मिक नहीं है, वह भी एक सुदीर्घ परम्परा का द्योतक है, विकास है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में जिन अतीन्द्रियदर्शी 'वातरशन' मुनियों की चर्चा है, वे जैन मुनि ही हैं।

श्री रामप्रसाद चन्दा ने अपने लेख में जिस सील का वर्णन दिया है, उसमें उत्कीर्णित ऋषभ-मूर्ति को ऋषभ-मूर्तियों का पुरखा कहा जा सकता है। ध्यानस्थ ऋषभनाथ, त्रिशूल, कल्पवृक्ष-पुष्पावलि, वृषभ, मृदु लता, भरत और सात मन्त्री आदि महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं। जैन वाङ्मय से इन तथ्यों की पुष्टि होती है।[3] इतिहासवेत्ता श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने भी इस तथ्य को माना है।[4] मथुरा-संग्रहालय में भी ऋषभ की इसी तरह की मूर्ति सुरक्षित है।[5] पी० सी० राय ने माना है कि मगध में पाषाणयुग के बाद कृषि-युग का प्रवर्तन ऋषभयुग में हुआ।[6]

---

१. भारतीय दर्शन; वाचस्पति गैरोला पृ० ९३

२. संस्कृति के चार अध्याय; रामधारीसिंह दिनकर; पृ० ३९

३. आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव; डॉ० कामताप्रसाद जैन; पृ० १३८

४. हिन्दू सभ्यता; डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, (हिन्दी अनु० वासुदेवशरण अग्रवाल); दिल्ली; १९७५; पृ० ३९

५. वही; पृ० २३

६. जैनिज्म इन बिहार; पी० सी० राय चौधरी; पृ० ७

श्री चन्दा ने जिस सील का विस्तृत विवरण दिया है, वह परम्परा जैन साहित्य में आश्चर्यजनक रूप से सुरक्षित है। आचार्य वीरसेन (धवला के रचनाकार),[1] विमलसूरि-रचित प्राकृत ग्रन्थ 'पउमचरियं'[2] एवं जिनसेनकृत 'आदिपुराण'[3] में जो वर्णन मिलते हैं उनमें तथा उक्त सील में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव देखा जा सकता है। इन वर्णनों के सूक्ष्मतर अध्ययन से पता चलता है कि इस तरह की कोई मुद्रा अवश्य ही व्यापक प्रचलन में रही होगी क्योंकि मोहन-जो-दड़ो की सील में अंकित आकृतियों तथा जैन साहित्य में उपलब्ध वर्णनों का यह साम्य आकस्मिक नहीं हो सकता। निश्चय ही यह एक अविच्छिन्न परम्परा की ठोस परिणति है। यदि हम पूर्वोक्त ग्रन्थों के विवरणों को सील के विवरणों से समन्वित करें तो सम्पूर्ण स्थिति की स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार सम्भव है :

पुरुदेव (ऋषभदेव) नग्न खड्गासन कायोत्सर्ग मुद्रा में अवस्थित हैं। उनके शीर्षोपरि भाग पर त्रिशूल अभिमण्डित है, यह रत्नत्रय की शिल्पाकृति है। कोमलदिव्यध्वनि के प्रतीक रूप एक लता-पर्ण मुखमण्डल के पास सुशोभित है।[4] दो ऊर्ध्वग कल्पवृक्ष-शाखाएँ हैं पुष्प-फलयुक्त, महायोगी उससे परिवेष्टित हैं। यह भक्ति-प्राप्य फल की द्योतक है। चक्रवर्ती भरत भगवान् के चरणों में अंजलिबद्ध प्रणाम-मुद्रा में नतशीश हैं।[5] भरत के पीछे वृषभ हैं, जो भगवान् ऋषभनाथ का चिह्न (लांछन) हैं। अधोभाग में अपने राजकीय गणवेश में सात मन्त्री हैं, जिनके पदनाम हैं—माण्डलिक राजा, ग्रामाधिपति, जनपद-अधिकारी, दुर्गाधिकारी (गृहमंत्री), भण्डारी (कृषिवित्त मन्त्री), षडंग बलाधिकारी (रक्षा-मन्त्री), मित्र (परराष्ट्र मन्त्री)।

मोहन-जो-दड़ो की मुद्राओं में उत्कीर्णित इन तथ्यों का स्थूल भाष्य सम्भव नहीं है; क्योंकि परम्पराओं और लोकानुभव को छोड़ कर यदि हम इन सीलों की व्याख्या करते हैं तो यह व्याख्या न तो यथार्थपरक होगी और न ही वैज्ञानिक। जब तक हम इस तथ्य को ठीक से आत्मसात नहीं करेंगे कि मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता पर योगियों की आत्मविद्या की स्पष्ट प्रतिच्छाया है, तब तक इन तथ्यों के साथ न्याय कर पाना सम्भव नहीं होगा; अतः इतिहासविदों और पुरातत्त्ववेत्ताओं को चाहिये कि वे प्राप्त तथ्यों को परवर्ती साहित्य की छाया में देखें और तब कोई निष्कर्ष लें। वास्तव में इसी तरह के तुलनात्मक और व्यापक, वस्तुनिष्ठ और गहन विश्लेषण से ही यह सम्भव हो पायेगा कि हमारे सामने कोई वस्तुस्थिति आये।

अब हम उन प्रतीकों की चर्चा करेंगे, जो मोहन-जो-दड़ो के अवशेषों से मिले हैं और जैन साहित्य में भी जिनका उपयोग हुआ है। यहाँ तक कि इनमें से कुछ प्रतीक तो आज तक जैन जीवन में प्रतिष्ठित हैं।

सब से पहले हम 'स्वस्तिक' को लेते हैं। सिन्धुघाटी से प्राप्त कुछ सीलों में स्वस्तिक (साँथिया) भी उपलब्ध है।[6] इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सिन्धुघाटी के लोकजीवन में स्वस्तिक एक मांगलिक प्रतीक था। साँथिया जैनों में व्यापक रूप में पूज्य और प्रचलित है। इसे जैन ग्रन्थों, जैन मन्दिरों और जैन ध्वजाओं पर अंकित देखा जा सकता है। व्यापारियों में इसका व्यापक प्रचलन है। दीपावली पर जब नये खाते-बहियों का आरम्भ किया जाता है, तब साँथिया माँड़ा जाता है।

स्वस्तिक जैन जीव-सिद्धान्त का भी प्रतीक है। इसे चतुर्गति का सूचक माना गया है। जीव की चार गतियां वर्णित हैं : नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव। स्वस्तिक के शिरोभाग पर तीन बिन्दु रखे जाते हैं, जो रत्नत्रय के प्रतीक हैं। इन तीन बिन्दुओं के ऊपर एक चन्द्रबिन्दु होता है जो क्रमशः लोकाग्र और निर्वाण का परिचायक है। 'स्वस्ति' का एक अर्थ कल्याण भी है।

---

१. छक्खंडा —मंगलायरण; १/१/२५ आचार्य वीरसेन; (तिरयण तिसूल धारिय)।

२. पउमचरियं; विमलसूरि; ४/६८-६९

३. आदिपुराण; आचार्य जिनसेन २४/७३-७४

४. पुरुदेवचम्पूप्रबन्ध १/१; श्रीमद् अर्हद्दास (दिव्यध्वनि मृदुलतालंकृतमुखः)।

५. पउमचरियं; विमलसूरि; ४/६८-६९

६. भारत में संस्कृति एवं धर्म; डॉ० एम० एल० शर्मा; पृ० १९

'त्रिशूल' दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रतीक है, जो सिन्धुघाटी की सीलों पर तो अंकित है ही, जैन ग्रन्थों में भी जिसकी चर्चा मिलती है। त्रिशूल आज भी लोकजीवन में कुछ शैव साधुओं द्वारा रखा जाता है। जैन परम्परा में त्रिशूल को रत्नत्रय का प्रतिनिधि माना गया है। त्रिरत्न हैं: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। इसकी चर्चा 'धवला',[1] 'आदिपुराण'[2], 'पुरुदेव चम्पू'[3] में मिलती है। त्रिशूल को जैनों का 'जैत्र' अस्त्र कहा गया है।

तीसरा है कल्पवृक्ष। यह कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी ऋषभमूर्ति के परिवेष्टन के रूप में उत्कीर्णित है। 'आदिपुराण' तथा 'संगीत समय सार' में इसके विवरण मिलते हैं।[4]

अर्हद्दास ने 'मृदु लतालंकृतमुखः' कह कर मृदुलता-पल्लव का आधार उपलब्ध करा दिया है।[5]

भरत चक्रवर्ती श्रद्धाभक्तिपूर्वक ऋषभमूर्ति के सम्मुख अजलि बाँधे नमन-मुद्रा में उपस्थित हैं। आचार्य जिनसेन, विमलसूरि आदि ने भरत की इस मुद्रा का तथा उनके द्वारा ऋषभार्चन का वर्णन किया है।[6] तुलनात्मक अध्ययन और व्यापक अनुसंधान से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मोहन-जो-दड़ो की सील पर जो रूपक अंकित है वह जन-जीवन के लिए सुपरिचित, प्रौढ़, प्रचलित रूपक है अन्यथा वह वहाँ से छन कर कवि परम्परा में इस तरह क्यों कर स्थापित होता ?

एक तथ्य और ध्यान देने योग्य है कि ब्राह्मणों को अध्यात्मविद्या क्षत्रियों से पूर्व प्राप्त नहीं थी। उन्हें यह क्षत्रियों से मिली, जिसका वे ठीक से पल्लवन नहीं कर पाये। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में इसकी झलक मिलती है।[7]

इससे पहले कि हम इस चर्चा को समाप्त करें कुछ ऐसे तथ्यों को और जानें जिनका जैनधर्म और जैन समाज की मौलिकताओं से सम्बन्ध है।

जैनधर्म आत्मस्वातन्त्र्यमूलक धर्म है। उसने न सिर्फ मनुष्य बल्कि प्राणिमात्र की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। जीव तो स्वाधीन है ही, यहाँ तक कि परमाणु-मात्र भी स्वाधीन है। कुल ६ द्रव्य हैं। प्रत्येक स्वाधीन है। कोई किसी पर निर्भर नहीं है। न कोई द्रव्य किसी की सत्ता में हस्तक्षेप करता है और न ही होने देता है। वस्तुतः लोकस्वरूप ही ऐसा है कि यहाँ सम्पूर्ण यातायात अत्यन्त स्वाधीन चलता है। जैनों का कर्म-सिद्धान्त भी इसी स्वातन्त्र्य पर आधारित है। श्री जुगमन्दरलाल जैनी ने आत्मस्वातन्त्र्य के इस सिद्धान्त को बहुत ही सरल शब्दों में विवेचित किया है।[8]

इस भ्रम को भी हमें दूर कर लेना चाहिये कि जैन और बौद्ध धर्म समकालीन प्रवर्तन हैं। वास्तविकता यह है कि बौद्धधर्म जैनधर्म का परवर्ती है। स्वयं गौतम बुद्ध ने आरम्भ में जैनधर्म को स्वीकार किया था; किन्तु वे उसकी कठोरताओं का पालन नहीं कर सके, अतः मध्यम मार्ग की ओर चले आये।[9] इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्धधर्म भले ही वेदों के खिलाफ रहा हो, किन्तु जैनधर्म जो प्राग्वैदिक है कभी किसी धर्म के विरुद्ध नहीं उठा, या प्रवर्तित हुआ। उसका अपना स्वतन्त्र विकास है। सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में कहीं किसी का विरोध नहीं है। जैनधर्म समन्वयमूलक धर्म है, विवादमूलक नहीं—उसके इस व्यक्तित्व से भी उसके प्राचीन होने का तथ्य पुष्ट होता है।

---

१. दे० टि० क्र० १८
२. आदिपुराण; आचार्य जिनसेन १/४; (रत्नत्रयं जैनं जैत्रमस्त्रं जयत्यदः)।
३. पुरुदेवचम्पूप्रबन्ध; श्रीमदर्हद्दास ५; (रत्नत्रयं राजति जैत्रमस्त्रम्)।
४. आदिपुराण; आचार्य जिनसेन; १५/३६; संगीतसमयसार; आचार्य पार्श्वदेव ७/९६
५. दे० टि० क्र० २१
६. आदिपुराण; २४/७७-७८; आचार्य जिनसेन; पउमचरियं ४/६८-६९; विमलसूरि।
७. छान्दोग्य उपनिषद्, शांकर भाष्य ५/७
८. आउटलाइन्स ऑफ जैनिज्म; जुगमंदरलाल जैन; पृ० ३४४
९. मज्झिमनिकाय (पालि) १२ महासिहनाद सुत्तं; पृ० ९०५

यहां श्री पी० आर० देशमुख के ग्रन्थ 'इंडस सिविलाइजेशन एंड हिन्दू कल्चर' के कुछ निष्कर्षों की भी चर्चा करेंगे। श्री देशमुख ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'जैनों के पहले तीर्थंकर सिन्धु सभ्यता से ही थे। सिन्धुजनों के देव नग्न होते थे। जैन लोगों ने उस सभ्यता/संस्कृति को बनाये रखा और नग्न तीर्थंकरों की पूजा की।'[1]

इसी तरह उन्होंने सिन्धुघाटी की भाषिक संरचना का भी उल्लेख किया है। लिखा है : 'सिन्धुजनों की भाषा प्राकृत थी। प्राकृत जन-सामान्य की भाषा है। जैनों और हिन्दुओं में भारी भाषिक भेद है। जैनों के समस्त प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ प्राकृत में हैं; विशेषतया अर्द्धमागधी में; जबकि हिन्दुओं के समस्त ग्रन्थ संस्कृत में हैं। प्राकृत भाषा के प्रयोग से भी यह सिद्ध होता है कि जैन प्राग्वैदिक हैं और उनका सिन्धुघाटी सभ्यता से सम्बन्ध था।'[2]

उनका यह भी निष्कर्ष है कि जैन कथा-साहित्य में वाणिज्य कथाएँ अधिक हैं। उनकी वहां भरमार है, जबकि हिन्दू ग्रन्थों में इस तरह की कथाओं का अभाव है। सिन्धुघाटी की सभ्यता में एक वाणिज्यिक कॉमनवेल्थ (राष्ट्रकुल) का अनुमान लगता है। तथ्यों के विश्लेषण से पता लगता है कि जैनों का व्यापार समुद्र-पार तक फैला हुआ था। उनकी हुंडियां चलती/सिकरती थीं। व्यापारिक दृष्टि से वे मोड़ी लिपि का उपयोग करते थे। यदि लिपि-बोध के बाद कुछ तथ्य सामने आये तो हम जान पायेंगे कि किस तरह जैनों ने पाँच सहस्र पूर्व एक सुविकसित व्यापार-तन्त्र का विकास कर लिया था।[3]

इन सारे तथ्यों से जैनधर्म की प्राचीनता प्रमाणित होती है। प्रस्तुत विचार मात्र एक आरम्भ है; अभी इस सन्दर्भ में पर्याप्त अनुसंधान किया जाना चाहिये।

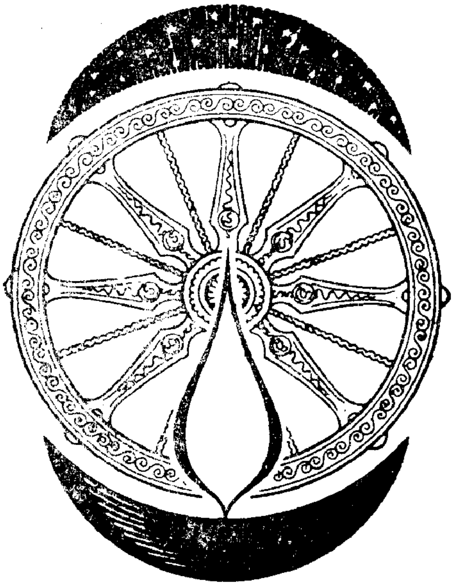

---

[1] इंडस सिविलाइजेशन, ऋग्वेद एंड हिन्दू कल्चर; पी० आर० देशमुख; पृ० ३६४.

[2] वही; पृ० ३६७.

[3] वही; पृ० ३६५.